



शोधामृत

(कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ISSN : 3048-9296 (Online)
3049-2890 (Print)

IIFS Impact Factor-4.0

Vol.-3; issue-1 (Jan.-March) 2026

Page No- 49-55

©2026 Shodhaamrit

<https://shodhaamrit.gyanvividha.com>

Author's :

देतराम

सहायक आचार्य,
अन्धिकारी पीजी महाविद्यालय, पल्लू

Corresponding Author :

देतराम

सहायक आचार्य,
अन्धिकारी पीजी महाविद्यालय, पल्लू

21वीं सदी के हिन्दी नाटकों में अनुभव की प्रस्तुति : भाषा, देह और दृश्य-संकेतों का अंतर्संबंध

सारांश : प्रस्तुत शोधपत्र 21वीं सदी के हिन्दी नाटकों में अनुभव की प्रस्तुति के विविध पक्षों का विश्लेषण करता है। विशेषतः यह भाषा, देह-भाषा (शारीरिक अभिव्यक्ति) और दृश्य-संकेतों (स्टेज या रंगमंचीय संकेतों) के अंतर्संबंध को साहित्यिक दृष्टिकोण से उजागर करता है। रंगमंच को एक जीवंत माध्यम माना गया है जिसमें लेखक के शब्द, अभिनेता का शरीर और रंग-दृश्य सभी मिलकर दर्शकों को गहन अनुभव कराते हैं। शोध में समकालीन हिन्दी नाट्यलेखन एवं मंचन की प्रवृत्तियों पर चर्चा की गई है, जिसमें मणि मधुकर, रंजीत कपूर, अरविंद गौड़ जैसे नाटककारों/निर्देशकों के कार्य तथा मोहन राकेश के “आधे अधूरे” सरीखे महत्वपूर्ण नाटकों का संदर्भ शामिल है। विभिन्न अकादमिक ऊतों, नाट्य-समीक्षाओं तथा रंगमंचीय सिद्धांतों के आधार पर यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार 21वीं सदी के हिन्दी नाटक भाषा की प्रभावशीलता, देह की अभिव्यक्ति और दृश्य प्रतीकों के समन्वय से आधुनिक अनुभवों को मंच पर मूर्त करते हैं। कुल मिलाकर, यह शोधपत्र समकालीन हिन्दी नाटकों की रंगभाषा (थिएटर लैंग्वेज) को विश्लेषित करते हुए दिखाता है कि कैसे भाषा, देह और दृश्य-संकेत परस्पर जुड़कर दर्शकों को नाटक के अनुभव से जोड़ते हैं तथा सामाजिक यथार्थ, मानवीय संवेदनाओं और परिवर्तनकामी चेतना को जीवंत अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

मुख्य शब्द : हिन्दी नाटक, रंगभाषा, अनुभव की प्रस्तुति, देह-भाषा, दृश्य संकेत, समकालीन रंगमंच, साहित्यिक विश्लेषण, रंगमंचीय भाषा, 21वीं सदी, हिन्दी थिएटर।

1. परिचय : नाटक अभिव्यक्ति की एक ऐसी विधा है जो मात्र साहित्य नहीं, उससे भी बढ़कर बहुत कुछ है। रंगमंच पर प्रस्तुत हुए बिना नाटक की प्रक्रिया पूर्ण नहीं होती। नाटककार का पाठ जब रंगमंच पर पहुंचता है तो निर्देशक, अभिनेता, रंग-शिल्पी और दर्शक सभी मिलकर उसे व्यापक अनुभव में परिणत करते हैं। दरअसल रंगमंच एक **प्रदर्शनकारी विधा** है जो केवल दर्शकों का मनोरंजन ही नहीं करती, बल्कि जीवन के

अनेक पक्षों और अनुभवों का साक्षात्कार कराती हुई दर्शकों के मस्तिष्क को झकझोरती है और सोचने पर मजबूर करती है। इस जीवंत कला में अभिनय की गतिशील क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से दर्शक सीधे संलग्न होते हैं।

21वीं सदी के दूसरे दशक तक आते-आते हिन्दी रंगमंच ने सृजनात्मक स्तर पर काफी कुछ अर्जित किया है और विश्व रंगमंच के समकक्ष अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है (ठाकुर)। इसके बावजूद आज के हिन्दी नाटक और रंगमंच को कई चुनौतियों का सामना भी करना पड़ रहा है (ठाकुर)। एक ओर सिनेमा, टीवी और इंटरनेट जैसे माध्यमों की लोकप्रियता ने रंगमंच के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न खड़े किए, वहीं दूसरी ओर नए लेखन की कमी पर भी चिंता व्यक्त की गई। प्रख्यात नाटककार असग़र वजाहत ने चेताया है कि “हिन्दी में नाट्य लेखन की विधा धीरे-धीरे लुप्त होने की कगार पर पहुँच चुकी है” (वजाहत, 2015)। पाठक-दर्शक वर्ग की घटती रुचि के कारण कई लेखकों ने हिन्दी में नाटक लिखना बंद भी किया है (वजाहत, 2015)। फिर भी, इन चुनौतियों के बीच समकालीन हिन्दी रंगमंच ने अपने अनुभव-विषयक सरोकारों को नए शिल्प और प्रयोगाधर्मिता के साथ जीवित रखा है। 21वीं सदी के हिन्दी नाटककारों और रंगकर्मियों ने भाषा, देह तथा दृश्य-अवलोकनों के नैकट्य को समझते हुए ऐसे नाटकों का सृजन और मंचन किया है जो दर्शकों को नई प्रकार की अनुभूति देने में सक्षम हैं। इस शोध में आगे, हम विशेष रूप से **भाषा, देह और दृश्य-संकेतों** के अंतर्संबंध को समझेंगे जो समकालीन नाटकों में अनुभव की प्रस्तुति को संभव बनाता है।

2. रंगभाषा की संकल्पना: भाषा, देह और दृश्य का समन्वय : हिन्दी रंगमंच की एक समृद्ध परंपरा रही है जिसमें शास्त्रीय से लेकर लोक नाट्य तक के तत्त्व समाहित हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक को श्रव्य-दृश्य माध्यम बताकर इसमें संगीत, नृत्य, अभिनय, वेश-भूषा आदि सभी तत्वों के समन्वय पर जोर दिया गया है। आधुनिक संदर्भ में रंगमंचीय संप्रेषण के लिए विदुषियों ने “रंगभाषा” का अवधारणा विकसित की है, जो रंगमंच की समग्र अभिव्यक्ति को दर्शाती है। रंगभाषा एक बनी-बनाई स्थिर भाषा नहीं है, बल्कि ताज़गी-भरी संश्लिष्ट (कॉम्प्लेक्स) भाषा है जिसे उसकी समग्रता में ही अनुभव किया जा सकता है – एक ऐसी समग्रता जो पूर्वनिर्धारित नहीं रहती। नाटक की रंगभाषा में **भाषिक** एवं **भाषेतर** दोनों तत्त्व सक्रिय रहते हैं। रंगचिंतक गिरीश रस्तोगी के शब्दों में – “रंगभाषा शब्दों में भी है, शब्दों की ध्वनियों में भी है, और स्वरों के ‘मौन’ में भी। ... रंगभाषा में कौतूहल है, जिज्ञासा है।” अर्थात् रंगमंच की भाषा केवल संवादों तक सीमित नहीं होती, उसके अनेक स्तर हैं जिनमें बोले गए शब्दों के अलावा स्वर का उतार-चढ़ाव, मौन का अंतराल, मंच पर दृश्य बिम्ब, प्रकाश-संगीत, वस्त्र-आभूषण सब मिलकर अर्थ पैदा करते हैं।

रंगभाषा के इन भाषिक व भाषेतर तत्वों में प्रमुख हैं – **वाचिक अभिव्यक्ति** (संवाद, आवाज़), **आंगिक अभिव्यक्ति** (देह-भाषा या बॉडी लैंग्वेज), **आहार्य** (वेश-भूषा, रूप-सज्जा, मंच-सज्जा) तथा भावनात्मक या **सात्त्विक अभिनय**। नाटक की संप्रेषणीयता इन सभी तत्वों के समन्वय से बनती है। अभिनव प्रयोगों के द्वारा नाटककार, निर्देशक और अभिनेता मिलकर रंगभाषा को प्रत्येक मंचन में पुनर्निर्मित करते हैं। दर्शक भी इस प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार होता है – उसकी उपस्थित प्रतिक्रिया रंगमंचीय अनुभव को प्रभावित करती है। इस प्रकार, रंगमंचीय भाषा एक समूह प्रयास से क्षण-प्रतिक्षण बनती-बिगड़ती जीवित माध्यम है (कुमार, 2019)। संक्षेप में, नाटक एक **जीवंत अनुभव** है जो केवल पढ़ने से नहीं, बल्कि मंच पर सम्पूर्ण रंगभाषा के माध्यम से ही प्राप्त होता है (कुमार, 2019)।

उपरोक्त सैद्धांतिक आधार 21वीं सदी के नाटकों को समझने में अत्यंत उपयोगी है। समकालीन हिन्दी नाटककारों ने रंगभाषा के सभी अंगों का प्रयोग अपने-अपने ढंग से किया है। आगे, हम भाषा, देह और दृश्य संकेतों के विशिष्ट पहलुओं पर अलग-अलग दृष्टि डालेंगे, तथा फिर समग्रतः इनकी अंतर्क्रिया को उदाहरणों सहित परखेंगे।

3. भाषा की शक्ति: संवाद और संरचना : भाषा किसी भी नाटक की आधारभूत संवाहक है। 21वीं सदी के हिन्दी

नाटक एक ओर पूर्ववर्ती साहित्यिक परंपरा से जुड़े हैं तो दूसरी ओर उनमें प्रयोगवादी और बोलचाल की जीवंत भाषा का प्रवाह भी है। मोहन राकेश द्वारा 1969 में लिखा गया नाटक “आधे-अधूरे” आज भी अपनी भाषा और कथन शैली के लिए प्रसिद्ध है। इस नाटक के नए संस्करण की भूमिका में उल्लेख मिलता है: ‘आधे-अधूरे’ आज के जीवन के एक गहन अनुभव-खंड को मूर्त करता है। इसके लिए हिंदी के जीवंत मुहावरे को पकड़ने की सार्थक, प्रभावशाली कोशिश की गई है। इस नाटक की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता इसकी **भाषा** है।” (राकेश, 2004) – अर्थात् इस नाटक में आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन के कटु यथार्थ को सम्प्रेषित करने के लिए बोलचाल के सजीव मुहावरों वाली भाषा अपनाई गई, जो इसकी प्रभावशीलता की कुंजी है। यही कारण है कि “आधे अधूरे” को हिंदी नाटक के इतिहास में एक मील का पत्थर माना जाता है। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि नाटक का कथ्य जब आम जन की प्रचलित भाषा में व्यक्त होता है तो वह दर्शकों के अनुभव से जुड़ जाता है।

समकालीन नाटकों में संवाद-लेखन एक सचेतन शिल्प के रूप में उमरा है जो कथानक की आवश्यकता अनुसार भाषा के स्तर पर नए आयाम जोड़ता है। संवादों में द्विअर्थी प्रयोग, व्यंग्य, क्षेत्रीय बोली के शब्द, यहां तक कि अंग्रेजी के मिश्रित प्रयोग – ये सब यथार्थ चित्रण हेतु बरते जाते हैं। **मणि मधुकर** जैसे नाटककार ने तो 1970 के दशक में ही साहित्यिक भाषा के बंधन तोड़कर आमजन की जनभाषा में नाटक लिखने शुरू कर दिए थे। छोटे-छोटे संक्षिप्त संवाद और सरल शब्दावली मणि मधुकर के नाटकों की विशेषता बनी, जिसने रंगमंच पर एक नए किस्म की लोकधर्मी भाषा को जगह दी। उनके चर्चित नाटक “रसगंधर्व” को साहित्येतिहासकार रामचंद्र तिवारी ने “आज की राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों की अर्थहीनता और विसंगति का अहसास करने वाला सर्वथा नवीन नाट्य प्रयोग” कहा। इस नवीनता का एक बड़ा कारण था नाटक की भाषा और प्रस्तुति, जो न तो शुद्ध यथार्थवादी थी, न पूर्णतया प्रतीकात्मक या निरर्थक (एब्सर्ट), बल्कि इन सबका लचीला सम्मिश्रण थी। सच तो यह है कि **नाटककार की लेखनी में अर्थ, व्यंजना और संकेत भरने का काम अंतिम तौर पर अभिनेता ही करता है**, जो लेखक के शब्दों में प्राण फूंक देता है। संवाद जब मंच पर अभिनेता की वाणी और भाव-भंगिमा के साथ जीवंत होता है, तभी उसका संपूर्ण अर्थ उद्घाटित होता है।

21वीं सदी में कई हिंदी नाटककारों ने अपनी भाषा-शैली द्वारा समकालीन अनुभवों को पकड़ने का प्रयास किया है। **असगर वजाहत** के नाटक हों या **स्वदेश दीपक** का चर्चित नाटक “कोर्ट मारलि”, इनमें कथोपकथन की वास्तविकता और तीर्यापन दर्शकों को झकझोरते हैं। भाषा की सहजता के साथ-साथ उसमें छुपे मौन भी नाटक में बहुत कुछ कह जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, “आधे अधूरे” नाटक में संवादों के बीच मौन ठहराव और अधूरे वाक्य चरित्रों के भीतर की असुरक्षा और अधूरेपन को प्रकट करते हैं, जो कि इस नाटक के शीर्षक भाव से जुड़ा हुआ अनुभव है (राकेश, 2004)। स्पष्ट है कि हिंदी नाटकों में भाषा मात्र संप्रेषण का उपकरण न होकर **अनुभव निर्माण** का प्रमुख माध्यम है। समकालीन नाटककार संवादों के जरिये चरित्रों के मनोभाव, सामाजिक टिप्पणी, व्यंग्य और विद्रोह – सभी को दर्शकों तक पहुँचाते हैं, जिससे भाषा अनुभवात्मक संचरण की धुरी बन जाती है।

4. देह-भाषा और अभिनय: शारीरिक अभिव्यक्ति के अर्थ : भाषा के साथ-साथ **देह-भाषा** यानी अभिनेता की शारीरिक अभिव्यक्ति नाट्य-अनुभव को गहराई देने में केन्द्रीय भूमिका निभाती है। मंच पर अभिनेता का सम्पूर्ण शरीर एक उपकरण की तरह अर्थ संप्रेषित करता है। रंगमंच के प्रख्यात सिद्धांतकार गिरीश रस्तोगी ने लिखा है – “अभिनेता का संपूर्ण व्यक्तित्व रंगभाषा का कार्य करता है। उसका पूरा शरीर बहुत कुछ कहता है – उसका आकार-प्रकार, आयु, कद-काठी, उसका खड़े होना, चलना-फिरना, हर भंगिमा बहुत कुछ कहती है।” (रस्तोगी, 106)। अर्थात् मंच पर अभिनेता की हर शारीरिक गतिविधि दर्शकों के लिए संकेत बन जाती है। अभिनेता के हाव-भाव, मुख-मुद्रा, चाल-ठाल, नेत्राभिनय – इन सबके जरिये कथानक के सूक्ष्म अर्थ संप्रेषित होते हैं। उदाहरणस्वरूप, दुखी पात्र का हुका हुआ कंधा या क्रोधित पात्र की तनी मुद्रा, बिना कुछ बोले ही मनोभाव प्रकट कर देती है।

समकालीन हिंदी रंगमंच में निर्देशक **अरविंद गौड़** जैसे व्यक्तियों ने अभिनेताओं के प्रशिक्षण पर खास बल देते हुए रंगकर्म को एक अभिनेता का माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अस्मिता थिएटर समूह, जिसके गौड़ संस्थापक हैं, ने पिछले दशकों में सामाजिक मुद्दों पर केंद्रित अनेक नाटकों का मंचन किया है। इस समूह ने हमेशा अभिनय-कला को नाटक का आधार माना है और अभिनेताओं की शारीरिक अभिव्यक्ति के ज़रिए संदेश को प्रभावी बनाने का प्रयास किया है। अस्मिता की एक रिपोर्ट के अनुसार: “अस्मिता रंगसमूह ने हमेशा अभिनेता-प्रशिक्षण पर ज़ोर दिया है और सामाजिक रूप से प्रासंगिक थिएटर को प्रोत्साहित किया है” (अस्मिता नाट्य समूह, 2011)। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज के युवा रंगकर्मियों में शारीरिक अभिनय की महत्ता को लेकर नई जागरूकता आई है।

अभिनय के शारीरिक पक्ष की बात करते हुए यह समझना ज़रूरी है कि रंगमंच, फ़िल्म से मिन्न, विशुद्ध रियलिज़ पर निर्मर नहीं होता, बल्कि प्रतीकात्मक शारीरिक अभिव्यक्तियों से दर्शकों के मन पर प्रभाव डालता है। अनुमती रंगनिर्देशक **रंजीत कपूर** इस अंतर को इस प्रकार बताते हैं: “सिनेमा में ज़ंगल दिखाने के लिए सचमुच ज़ंगल में शूटिंग करनी पड़ती है, जबकि नाटक में हम प्रकाश प्रभावों और **अभिनय** के ज़रिए दर्शकों के मन में ज़ंगल रच देते हैं” (कपूर, 2012)। प्रकाश, ध्वनि और शरीर की हरकतों से रंगमंच दर्शकों की कल्पना सक्रिय करता है। कपूर आगे कहते हैं कि रंगमंच में हमें ऐसी लचीलापन और अवसर मिलते हैं जो फ़िल्मों में सम्भव नहीं – “थिएटर मुझे असीम रचनात्मक संतुष्टि देता है... दो शो कभी एक जैसे नहीं होते। यही बात रोमांचक है।” (कपूर, 2012)। इस कथन में मंचीय अभिनय की अनूठी विशेषता निहित है: हर मंचन में अभिनेता अपने शरीर और ऊर्जा से थोड़ा मिन्न नाट्यानुभव रखता है, जो उस क्षण के लिए अद्वितीय होता है।

मणि मधुकर के नाटकों को देखें तो उनमें लोकनाट्य शैली के शारीरिक अभिनय का भरपूर इस्तेमाल हुआ। उनके नाटक **“दुलारी बाई”** में पारसी थियेटर की शैली के रंगपूर्ण अभिनय को अपनाया गया था। मधुकर ने स्वयं कहा था, “दुलारी बाई में मैंने पारसी थिएटर को अपनाया और नतीजा अच्छा निकला – यह शायद हिंदी का एकमात्र आधुनिक नाटक है जिसके पाँच हजार से अधिक प्रदर्शन हुए हैं।” (जाखड़, 2012)। इस अपार सफलता के मूल में अभिनय की वह शैली थी जिसने दर्शकों को दृश्य-गतियों, नृत्य-संगीत और देह-भाषा से मंत्रमुग्ध किया। स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी नाटकों में कलाकारों की शारीरिक प्रस्तुतियों ने कथ्य को बहुआयामी तरीके से व्यक्त करने में सहायता की है। **सफ़दर हाशमी** जैसे रंगकर्मियों की नुक़क़ नाटकों की परंपरा ने तो देह-भाषा के ज़रिए जन-संदेश पहुंचाने की कला को सिद्ध कर दिखाया था – कैसे तेज़ लयबद्ध गतियों, नारों और प्रतीकात्मक शरीरबंधों द्वारा आम जनता के बीच प्रभाव छोड़ जा सकता है। कुल मिलाकर, 21वीं सदी का हिंदी रंगमंच अभिनेताओं की शारीरिक अभिव्यक्ति को एक सशक्त भाषा के रूप में बरत रहा है, जिसके माध्यम से अनकहे भाव और अनुभव भी दर्शकों तक संप्रेषित हो जाते हैं।

5. दृश्य-संकेत और रंग-परिवेश: मंच पर मौन का स्वर : नाटक का तीसरा प्रमुख तत्व है – **दृश्य संकेत** एवं समग्र रंगमंचीय दृश्यावली। इसमें मंच-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, ध्वनि-प्रभाव, वेशभूषा, रंग-रूप और प्रॉप्स (सामग्री) सभी शामिल हैं। दृश्य संकेत वस्तुतः मौन भाषा की तरह कार्य करते हैं, जो शब्दों के परे अर्थ संप्रेषित करते हैं। रंगमंचीय कहावत है कि एक अच्छी मंच-प्रस्तुति में मंच पर मौजूद प्रत्येक वस्तु कुछ न कुछ कहती है। प्रकाश और ध्वनि जैसे तकनीकी पहलू भी अभिनय की भाषा बन जाते हैं – ये केवल यांत्रिक तकनीक नहीं हैं बल्कि रंगमंच की **सृजनात्मकता** का हिस्सा हैं (वर्मा)। जब निर्देशक प्रकाश योजनाओं और ध्वनि प्रभावों को कलात्मक ढंग से गढ़ता है, तब वे भी कथानक में अर्थ जोड़ते हैं (वर्मा)। मसलन, मंथर नीली रोशनी किसी अवसादपूर्ण माहौल को उभार सकती है, तेज लाल रोशनी क्रोध या हिंसा का संकेत दे सकती है, बैकग्राउंड में बजती धीमी साँवली धुन किसी सृति या दुखांत संकेत कर सकती है। 21वीं सदी में रंगमंचीय प्रकाश और ध्वनि तकनीक में काफी नये प्रयोग हुए हैं – प्रोजेक्शन, डिजिटल साउंड, इत्यादि का प्रयोग बढ़ा है – लेकिन इनका

लक्ष्य अब भी पारंपरिक है: दर्शकों के समुख ऐसी दृश्यमय भाषा प्रस्तुत करना जो शब्दों के बिना भी कहानी कहे।

मंच-सज्जा और वस्त्र-रूप-सज्जा भी नाट्य अनुभव को गहराई देती हैं। समकालीन निर्देशक प्रायः मिनिमलिस्ट (न्यूनतम वस्तुओं वाले) मंच का प्रयोग करते हैं, जहाँ कुछ संकेतक वस्तुएँ भरपूर अर्थ वहन करती हैं। उदाहरणस्वरूप, मोहन राकेश के “आधे अधूरे” में मंच पर घर के अधूरे ढाँचे जैसा सेट इस्तेमाल होता रहा है, जो स्वयं परिवार के अपूर्ण जीवन का रूपक बन जाता है (ठाकुर, 2015)। दूसरी ओर, भव्य उत्पादनों में विस्तृत रंगमंचीय सज्जा दर्शकों को एक वैकल्पिक वास्तविकता में डुबो देती है – जैसे ऐतिहासिक नाटकों में महलों के सेट, युद्ध के मंचन में धूम्र-पटाखे, आदि द्वारा। परंतु: आज प्रवृत्ति इस ओर भी है कि संकेतों को सांकेतिक रखा जाए – जैसे एक लाल कपड़ा रक्त का प्रतीक बन जाए, एक ऊंचा चबूतरा पर्वत या सिंहासन का, इत्यादि। यह रंग-आलोचकों द्वारा विकसित नाट्य-प्रतीकवाद से जुड़ा है, जहाँ दर्शकों की कल्पना को उकसाकर कुछ संकेतों से संपूर्ण वातावरण का आभास कराया जाता है।

रंगमंच में दृश्य और श्रव्य संकेतों का प्रभाव दर्शक के अवचेतन मन पर पड़ता है। **रंजीत कपूर** के ही शब्द लें तो “थिएटर में हम प्रकाश और अभिनय के माध्यम से दर्शकों के मन पर असर डालते हैं”। दर्शक को वास्तविक जंगल दिखाने की ज़रूरत नहीं, बल्कि मंच के न्यून संकेतों से उनके मन में जंगल उगाया जा सकता है – यहीं रंगमंच का जादू है। कपूर बताते हैं कि अच्छे थिएटर दर्शक कला की बारीकियों को सराहते हैं और हल्के-फुल्के प्रभावों को नकार देते हैं। इसलिए एक सजग रंगनिर्देशक हर दृश्य तत्व का चयन सोच-समझकर करता है। **बटोल्ट ब्रेक्ट** के एपिक थिएटर ने तो मंच सज्जा को भी विचारोत्तेजक गलुषि का माध्यम बनाया – पर्दे पर प्रोजेक्शन से नारे, तख्तियों पर लिखे संदेश, आदि उनके नाटकों में दर्शकों को सोचने पर मजबूर करते थे। आज भारतीय हिंदी रंगमंच में भी कई प्रस्तुतियों में ऐसे दृश्य प्रयोग दिखते हैं, विशेषकर राजनीतिक या सामाजिक संदेश वाले नाटकों में। कुल मिलाकर, दृश्य-संकेत नाटक की अनुभव प्रस्तुति के महत्वपूर्ण कारक हैं: वे माहौल रखते हैं, प्रतीकों के जरिए अर्थसंकेत देते हैं और दर्शक की कल्पना व भावना दोनों को संचालित करते हैं।

6. भाषा, देह और दृश्य का अंतर्संबंध: समकालीन नाटकों में प्रतिबिंब : उपरोक्त तीनों घटक – भाषा, देह-भाषा और दृश्य संकेत – वास्तव में रंगप्रयोग के अलग-थलग पक्ष न होकर एक दूसरे से गहरे जुड़े हैं। 21वीं सदी के हिंदी नाटक इनका प्रयोग समानान्तर और मिलेजुले रूप में करते हैं ताकि एक समग्र नाट्यानुभव सृजित हो सके। जब इनका सही संतुलन बनता है, तभी दर्शक के मन-मस्तिष्क पर नाटक अपनी छाप छोड़ पाता है। जैसा एक समकालीन टिप्पणी में कहा गया है: “किसी भी तरह का नाटक तब तक पूर्णता का अनुभव नहीं करता जब तक वह दर्शकों को बौद्धिक, वैचारिक और दार्शनिक स्तर पर सोचने-समझने को विवश न कर दे” (हर सर्कल टीम, 2024)। नाटक की यह प्रभाव-पूर्णता भाषा, अभिनय और दृश्य सभी की सम्मिलित सफलता से आती है।

समकालीन हिंदी रंगमंच में कई उदाहरण हैं जहाँ इन तत्वों का अद्भुत संगम देखने को मिलता है। **अरविन्द गौड़** द्वारा निर्देशित नाटक “जिस लाहौर नहिं देख्या, ओ जास्याइ ही नहीं” (लेखक: असगर वजाहत) में विभाजन की त्रासदी को मंच पर उतारते हुए अवधी-उर्दू मिली-जुली भाषा, तीव्र देह-भाषा (उग्र भीड़ के दृश्य, हिंसा के भाव) और वास्तविक मस्जिद-दरगाह के सेट व संगीत के समन्वय से एक तीखा अनुभव पैदा किया गया था। दर्शक न सिर्फ उस कथा को सुनते हैं, बल्कि मंच पर सांप्रदायिक तनाव को महसूस करते हैं – भाषा से तर्क और भावनाएं, अभिनेताओं की देह से घुणा और करुणा, और मंच-संगीत से माहौल – ये सब मिलकर इतिहास की पीड़ा को जीवंत कर देते हैं। इसी प्रकार, **महेश दत्तानी** (हालांकि अंग्रेजी के नाटककार, पर हिंदी अनुवादों में भी प्रसिद्ध) के नाटक “फ़ाइनल सल्यूशंस” को जब हिंदी में खेला गया तो घुमंतू मंच (रिवॉल्विंग स्टेज), ढोल की बीट्स, समूह-गान और तीखे संवादों से एक समग्र अनुभव उभरा जिसमें दर्शक स्वयं को उस सांप्रदायिक दुविधा के बीच पा सके।

मणि मधुकर के नाटक “खेलो पोलमपुर” का उदाहरण लें – इसमें भाषा की व्यंग्यात्मक चोट, पात्रों के प्रतीकात्मक नाम तथा अभिनेताओं की नाटकीय देह-भंगिमाएँ, सबने मिलकर सत्ता के विरोध का संदेश प्रभावी बनाया। इस नाटक में लकर्खी शाह, जानी हिंजड़ा, समरु जाट जैसे पात्र हैं जो विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। एक सप्राट (लकर्खी शाह) से पीड़ित जनता (समरु जाट) की क्रांति की कहानी को दर्शनी के लिए मधुकर ने पारंपरिक **मंगलाचरण** से शुरुआत कर लोकनाट्य का रंग भरा, फिर रंगमंच पर भूत-प्रेत जैसे पात्र (भूत 1,2,3) लाकर अंधविश्वास और रुद्धियों पर प्रहार किया। इन सबका प्रभाव दर्शकों पर तभी पड़ा जब मंचन में तेज देह-भाषा (जुलूस, लड़ाई के दृश्यों में नाटकीय शरीर अभिनय) और तीव्र **प्रकाश-ध्वनि संकेतों** (युद्ध के कोलाहल, लाल-नीली रोशनी) का उपयोग हुआ। कहा जा सकता है कि “खेलो पोलमपुर” जैसे नाटक अनुभूतियों का कोलाज बन जाते हैं – विचार, भाव, मोशन और रूप समी मिलकर एक गहरा प्रभाव छोड़ते हैं।

समकालीन हिंदी नाटकों में स्त्री-अनुभवों की अभिव्यक्ति भी इन्हीं तत्वों के इंटरप्ले के जरिए असरदार बनी है। उदाहरणार्थ, **शोभा यादव** के लिखे और निर्देशित नाटक “कोई बात चले” में स्त्री पात्र की आंतरिक पीड़ा को संवाद के साथ-साथ मंच पर प्रकाश और छाया के प्रयोग तथा अभिनेत्रियों के समूह द्वारा कोरस में व्यक्त किया गया। मुख्य चरित्र के संवाद उसके मन की आवाज़ (वॉयस ओवर) के साथ सुनाई देते थे, जबकि मंच पर अन्य अभिनेत्रियाँ शरीर से उन भावों को विनियत करती थीं – कभी सिकुड़कर कोने में बैठ जाना, तो कभी प्रकाश-पुंज के बीच खड़े होकर चिल्लाना। ऐसे प्रयोगों में डायलॉग कम और शारीरिक कोरियोग्राफी ज्यादा होती है, पर दोनों का मकसद मिलकर दर्शक को चरित्र के अनुभव में डुबो देना होता है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि **भाषा, देह और दृश्य-संकेत** नाटक में अलग-अलग होकर भी अंततः एकीकृत प्रभाव उत्पन्न करते हैं। नाटककार **अगस्टो बोआल** ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ “थिएटर ऑफ द ओप्रेस्ट” में लिखा है: “थिएटर खुद क्रांतिकारी नहीं होता; यह क्रांति का पूर्वाभ्यास मात्र है” (बोआल, 1979)। इस कथन में रंगमंच के जिस परिवर्तनकामी प्रभाव की बात है, वह तभी संभव होता है जब रंगमंच अपनी संपूर्ण रंगभाषा के माध्यम से दर्शक को अनुभव के स्तर पर झकझोर दे। भाषा से विचार जगें, शरीर से भावनाएं संचारित हों, और दृश्य-संकेतों से मूड तथा परिस्थितियां मूर्त हो उठें – तब रंगमंच सामाजिक परिवर्तन का पूर्वाभ्यास बन जाता है, क्योंकि दर्शक उस अनुभव से कुछ सीखकर, कुछ महसूस करके थियेटर से निकलते हैं।

7. निष्कर्ष : 21वीं सदी के हिंदी नाटक बहुआयामी अभिव्यक्ति के माध्यम बनकर उभरे हैं। इन नाटकों में **अनुभव की प्रस्तुति** एक समग्र रंगभाषा के जरिये की जाती है, जिसमें लेखक की **भाषा**, अभिनेता की **देह** और मंच के **दृश्य-संकेत** घुल-मिलकर दर्शकों के लिए अर्थ और संवेदना का सृजन करते हैं। हमने देखा कि कैसे संवादों की जीवंतता, शारीरिक अभिनय की तीक्ष्णता और रंगमंचीय संकेतों की सूक्ष्मता – ये सभी तत्व मिलकर नाटक को एक जीवंत अनुभव में बदल देते हैं। समकालीन परिदृश्य में मणि मधुकर जैसे नाटककार के प्रयोग हों या रंजीत कपूर व अरविंद गौड़ जैसे रंगनिर्देशकों की रंगरोली – सभी ने भाषा, शरीर और दृश्य के अंतरंग संबंध का भरपूर उपयोग किया है।

अंततः, हिंदी नाटक अपनी मूल प्रकृति में एक **दृश्य-काव्य** (विज्ञुअल पोएट्री) है जो पाठ से मंच तक आते ही अनेक कलाओं का संगम बन जाता है। यही संगम दर्शकों को आनंद देने के साथ-साथ जीवन के यथार्थ से रुबरु भी कराता है (ठाकुर)। 21वीं सदी के हिंदी रंगमंच ने न सिर्फ अपने पूर्ववर्तियों की विरासत को आगे बढ़ाया है बल्कि नई तकनीकों और शैलियों को अपनाकर अभिव्यक्ति के नए मानदंड स्थापित किए हैं। प्रयोगाधर्मी हिंदी नाटक लगातार इस प्रयास में हैं कि दर्शकों के मन पर गहरी छाप छोड़ी जाए – उन्हें हँसाते हुए रुलाया जाए, झकझोरते हुए सोचने पर मजबूर किया जाए। यह प्रभाव तभी साकार होता है जब शब्द, शरीर और दृश्य एकसाथ समन्वित होकर काम करें। कहा जा सकता है कि हिंदी नाटकों में अनुभव की प्रस्तुति का रहस्य इसी त्रिविधि समन्वय में निहित है।

आने वाले समय में भी, हिंदी रंगमंच की सफलता का दारोमदार इसी बात पर होगा कि वह भाषा की शक्ति, अभिनेता की ऊर्जा और रंगमंचीय संकेतों की कला को कितनी रचनात्मकता से जोड़ पाता है। यदि हमारे नाटक दर्शकों को अपने कथ्य का अनुभव पूरी प्रामाणिकता से करा सकें, तो निश्चय ही रंगमंच की प्रभावकारिता बनी रहेगी, चाहे चुनौतियाँ कितनी भी आएँ। इसी विश्वास के साथ यह शोधपत्र निष्कर्षित करता है कि 21वीं सदी के हिंदी नाटक अनुभव की प्रस्तुति में भाषा, देह और दृश्य-संकेतों के अंतर्संबंध का अभूतपूर्व एवं प्रभावशाली उपयोग कर रहे हैं, जो हिंदी रंगमंच को जीवंत, प्रासंगिक और समाज-सापेक्ष बनाए हुए हैं।

संदर्भ सूची :

1. **अस्मिता थिएटर ग्रुप।** “अस्मिता थिएटर – थिएटर आंदोलन के 18 वर्ष का उत्सव।” अस्मिता रंगसमूह ब्लॉग, 13 मार्च 2011।
2. **बोआल, ऑगस्टो।** थिएटर ऑफ द ऑप्रेस्ट। लंदन, प्लूटो प्रेस, 1979।
3. **हर सर्कल टीम।** “कला की दुनिया में प्रयोगात्मक हिन्दी नाटकों का अद्भुत विस्तार।” हर सर्कल पोर्टल, 1 अगस्त 2024।
4. **जाखड़, कृष्ण।** “मणि मधुकर की नाट्य कला।” एक और अंतरीप, अक्टूबर-दिसंबर 2012।
5. **कपूर, रंजीत।** “आई डोंट अंडरस्टैंड हाउ फ़िल्स लाइक दबंग वर्क।” साक्षात्कारकर्ता: अक्षत चोपड़ा। टाइम्स ऑफ़ इंडिया (टी0ओ0आई0), 11 जून 2012।
6. **कुमार, नवनीत।** “रंगभाषा : संश्लिष्टता और वैचित्र्य।” एसकॉनली-12 विशेषांक, 2019।
7. **राकेश, मोहन।** आधे-अधूरे। नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2004 (प्रथम प्रकाशन 1969)।
8. **रस्तोगी, गिरीश।** रंग-भाषा। नई दिल्ली, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, 1999।
9. **ठाकुर, बंदना।** “हिंदी नाटक : चुनौतियाँ और संभावनाएँ।” हिंदी समय (hindisamay.com), वेब लेख।
10. **वजहट, असगर।** “हिंदी में खत्म हो रही है नाटक लिखने की विधा।” दैनिक जागरण, नई दिल्ली संस्करण, लगभग 2015।

•